दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष सातवाँ
अंक बारहवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

चैत्र
2478

हीरे की रज

जो हीरा सान पर चढ़ता है, वह तो अति मूल्यवान है ही, परंतु उसकी जो रज खिरती है, उसके भी सैकड़ों रुपये उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार वस्तु का सत्यस्वरूप सुनकर जो जीव वस्तुस्वरूप को ग्रहण करता है, उसकी तो क्या बात! वह तो अमूल्य हीरे को ग्रहण करता है, परंतु ऐसा सत्यस्वरूप सुनकर जो शुभभाव होता है, उसके कारण भी उच्च पुण्यबंध होता है... जो इस अध्यात्म छठवीं गाथा के अंतरभावों को समझे उसका मोक्षभाव विमुख न हो, उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे!

— समयसार प्रवचन से

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

84

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

धन्य वे मुनिवर

आत्मा के गुणों की चौदह भूमिकाएँ हैं। उनमें चौथी भूमिका में अपूर्व आत्मसाक्षात्कार, निर्विकल्प अनुभव होता है, वहाँ यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। पश्चात् अंशत: स्थिरता की वृद्धि हो, वह पांचवीं भूमिका है। अंतरज्ञान में विशेष स्थिर होकर, कषाय की तीन चौकड़ी का अभाव करके, निर्विकल्प ध्यानदशा प्रगट हो, उसे अप्रमत्त नाम की सातवीं भूमिका कहते हैं, पश्चात् सविकल्पदशा आये, उसे छठवां प्रमत्त गुणस्थान कहते हैं। मुनि इन दो दशाओं के बीच बारम्बार झूलते रहते हैं।

यदि निर्विकल्पदशा में विशेष काल स्थिर रहे तो मुनि अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। ऐसा न हो, वहाँ तक हजारों बार छठवीं-सातवीं भूमिका बदलती रहती है। तीनों काल मुनिदशा ऐसी ही होती है। वह मुनिदशा बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित होती है, आत्मज्ञानसहित नग्न-दिगंबरत्व होता है। सातवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक विकल्प छूट जाते हैं और आत्मस्वरूप की स्थिरता में बिल्कुल निर्विकल्प आनन्द में लीन हो जाते हैं, वहाँ प्रतिक्षण साक्षात् सिद्ध जैसा आनंद अंशत: अनुभव में आता है। 'मैं आत्मा हूँ, शुद्ध आनंद स्वरूप हूँ - ऐसे विकल्प भी वहाँ नहीं आते, मात्र स्व-संवेदन होता है। ऐसी स्थिति साधकदशा कुन्दकुन्दाचार्यदेव की थी, वे क्षण में प्रमत्त और क्षण में अप्रमत्तदशा में झूलते थे।

आचार्यदेव को केवलज्ञान प्रगट होने में संज्वलन कषाय के अंश को जीतना शेष रहा है। क्षण में छट्ठी भूमिका में आने से आत्मस्वभाव की बात करते हैं और क्षण में वह शुभ विकल्प टूटकर सातवीं भूमिका में मात्र अतीन्द्रिय आत्मानंद में स्थित होते हैं, ऐसी वह उत्कृष्ट साधकदशा है, वह उनका निजवैभव है। उस निजवैभव से वे आत्मा का वास्तविक स्वरूप जगत को सुनाते हैं कि आत्मा ज्ञायक नित्य एकरूप चैतन्यज्योति है, वह वर्तमान क्षणिक अवस्था के किसी भेदरूप नहीं है, किन्तु केवल ज्ञायकरूप शुद्ध है, अखण्ड एकाकार ज्ञायक स्वभाव में अप्रमत्त-प्रमत्त के भेद परमार्थ से नहीं हैं।

- समयसार प्रवचन से

****

सूचना - आपका वार्षिक मूल्य इसी अंक से पूरा हो रहा है, इसलिए नये वर्ष का मूल्य तीन रुपया मनीऑर्डर द्वारा शीघ्र ही भेजने की कृपा करें। आपका ग्राहक नंबर लिखें।

- व्यवस्थापक

आत्मधर्म

चैत्र 2478 ★ वर्ष सातवाँ ★ अंक बारहवाँ

शुद्ध उपयोग ही धर्म है

(गतांक से आगे)

गुरु-आज्ञा अर्थात् श्रीगुरु ने जैसा आत्मस्वभाव कहा, वैसा समझना तथा उसका विचार और ध्यान करना ही भवरोग टालने का उपाय है। प्रथम शुभाशुभ रहित चैतन्यस्वरूप आत्मस्वभाव का भान करना ही आत्मभ्रान्ति से छूटने का उपाय है।

27. आत्मा की प्रभुता

मैं अनादि-अनंत पवित्र गुणों का सागर हूँ, जितने गुण सिद्ध भगवान के आत्मा में हैं, उतने ही गुण मुझमें हैं। सिद्धभगवान जैसी ही मेरी प्रभुता मुझमें भरी है - इसप्रकार अपनी प्रभुता का विश्वास करे तो उसमें स्थिर होने का अभ्यास करे। किन्तु जीव को अनादि से अपनी प्रभुता का विश्वास नहीं आता। कस्तूरीवाले मृग की भांति अज्ञानी जीव अपनी परमात्म शक्ति को भूलकर बाह्य में भटकता है, इसलिए स्वद्रव्य के आश्रय से च्युत होकर परद्रव्यानुसार परिणमित होता है, वह अशुद्धोपयोग है। सच्चा भान होने के पश्चात् परलक्ष से जो शुभाशुभ परिणति होती है, वह भी अशुद्धोपयोग में आती है और स्वभाव की प्रभुता को पहिचान कर उमसें लीन रहने से शुभाशुभ परिणति न हो, वह शुद्धोपयोग है। अशुद्ध उपयोग दूर होकर शुद्धोपयोग कैसे प्रगट हो, उसकी यह बात चल रही है।

28. धर्मी जीव की शुद्धोपयोग भावना

ज्ञानी मुनि कहते हैं कि - स्वद्रव्योन्मुख होने से शुद्धोपयोग होता है और परद्रव्योन्मुख होने से अशुद्धोपयोग है, इसलिए स्व-पर द्रव्यों को भिन्न जानकर मैं समस्त परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ

होता हूँ, इसप्रकार मध्यस्थ होकर मैं परद्रव्यानुसार परिणति से होनेवाले अशुद्धोपयोग से मुक्त होता हूँ और मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करने से शुद्धोपयोगरूप परिणमित होता हूँ, यहाँ ज्ञान प्रधान कथन होने से अशुद्धोपयोग को छोड़ने की बात की है, वास्तव में 'अशुद्धोपयोग को छोड़ूँ' – ऐसे लक्ष से वह नहीं छूटता, किन्तु स्वद्रव्य को लक्ष में लेकर उसके ध्यान में स्थिर हुआ वहाँ अशुद्धोपयोग हुआ ही नहीं, इसलिए अशुद्धोपयोग को छोड़ा – ऐसा कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में भी ऐसे शुद्धोपयोग की ही भावना है, बीच में देशव्रत, प्रतिमा अथवा महाव्रतादि का शुभराग आये, उसकी भावना नहीं है और न उसमें धर्म मानते हैं। शुभ-अशुभ उपयोग तो परद्रव्य के संयोग का अर्थात् संसार का कारण है और शुद्ध उपयोग मुक्ति का कारण है। शुद्ध उपयोग कहने से उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं।

29. वसुबिन्दु प्रतिष्ठापाठ

भगवान श्री कुन्दकुन्द स्वामी के पट्टशिष्य श्री जयसेनाचार्यदेव ने प्रतिष्ठापाठ बनाया है, श्री कुन्दकुन्द प्रभु ने उन्हें प्रतिष्ठापाठ बनाने की आज्ञा दी थी, इसप्रकार लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भगवान श्री चंदप्रभ स्वामी की प्रतिष्ठा के लिए गुरु कुन्दकुन्द स्वामी की आज्ञा से दो दिन में जयसेनाचार्यदेव ने यह प्रतिष्ठापाठ बनाया था, इसलिए श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने उनका नाम 'वसुविन्दु' रखा। वसु अर्थात् आठ कर्म और बिन्दु अर्थात् उनका शून्य अभाव-नाश करने वाला – ऐसा वसुबिन्दु का अर्थ है। दो हजार वर्ष पूर्व चंद्रप्रभ भगवान की प्रतिष्ठा के लिए जो इस वसुबिन्दु प्रतिष्ठापाठ की रचना हुई थी, उसका उपयोग आज इस सौराष्ट्र में यहाँ चंदप्रभ भगवान की प्रतिष्ठा के लिए हो रहा है। इसप्रकार प्राकृतिक मेल हो गया है।

30. शास्त्र में आनेवाले व्यवहार कथन और उनका परमार्थ आशय

इस प्रतिष्ठापाठ में जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा करानेवाले श्रावक का वर्णन आता है। वह श्रावक श्री आचार्यदेव के पास जाकर आज्ञा माँगता है कि – हे प्रभो ! मैं इस लक्ष्मी को कुलटा समान और अनित्य मानता हूँ। हे नाथ ! इस अनित्य लक्ष्मी का राग कम करके इसका सदुपयोग किसप्रकार करूँ ? श्री जिनमंदिर बनवाकर श्री अरिहंत भगवान का पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव रचाने की

मेरी भावना है। इसप्रकार लक्ष्मी का सदुपयोग करके अपना जीवन सफल करूँ, उसके लिए हे नाथ ! आज्ञा दीजिए। पश्चात् श्री आचार्यदेव उसे आज्ञा देते हुए कहते हैं कि धन्य है, तू अपने कुल में सूर्य समान है।

देखो, वास्तव में आत्मा परद्रव्य का कुछ भी ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता, तथापि प्रतिष्ठा पाठ में लक्ष्मी का सदुपयोग करने की बात आई, वह व्यवहार कथन है। आत्मा लक्ष्मी की क्रिया कर सकता है - ऐसा वहाँ नहीं बतलाना है, परन्तु वहाँ राग को कम करने का तात्पर्य है। कथन तो निमित्त से आता है, किन्तु वस्तुस्वरूप को लक्ष में रखकर उसके भाव समझना चाहिए। राग रहित आत्मस्वभाव को जानकर उसमें स्थिर होना, वह सर्व शास्त्रों का प्रयोजन है। शास्त्रों में प्रत्येक सूत्र का तात्पर्य भिन्न-भिन्न होता है, किसी समय व्यवहारनय का, निमित्त का अथवा संयोग का ज्ञान कराने के लिए अनेक प्रकार का कथन आता है, किन्तु शास्त्र का तात्पर्य तो वीतरागभाव की पुष्टि करना ही है। परद्रव्य की क्रिया आत्मा कर सकता है - ऐसा बतलाने का शास्त्र का प्रयोजन नहीं है, तथापि जो विपरीत अर्थ समझे और रागभाव की पुष्टि का आशय निकाले वह जीव शास्त्र के आशय को नहीं समझा है।

31. आचार्यदेव की भावना

यहाँ श्री प्रवचनसार की 159वीं गाथा चल रही है, उसमें श्री आचार्यदेव कहते हैं कि शुद्धोपयोग प्रगट करके मैं सदैव आत्मा में निश्चलरूप से उपयुक्त रहता हूँ। यद्यपि यह टीका लिखते समय उन्हें शुभ विकल्प वर्त रहा है, किन्तु अंतरस्वभाव के आदर में उस विकल्प का निषेध वर्तता है, उस विकल्प के आश्रय में रुकने की भावना नहीं है, किन्तु शुद्ध आत्मा के आश्रय की ही भावना है। इसलिए कहते हैं कि शुद्ध उपयोग प्रगट करके मैं सदैव आत्मा में ही निश्चलरूप से युक्त रहता हूँ। यह मेरा शुद्धोपयोग का अभ्यास है।

32. आत्मा की समझ

सर्वप्रथम सत्समागम से आत्मा को समझना, वह शुद्धोपयोग का कारण है। अनंतकाल में जीव ने सब कुछ किया है, किन्तु आत्मा को यथार्थरूप से कभी नहीं समझा। आत्मा की यथार्थ समझ अपूर्व है, यदि एक समय भी आत्मा को पहिचाने तो मुक्ति का मार्ग प्राप्त हुए बिना न रहे।

आत्मा कौन है और किसप्रकार प्राप्त हो?

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में 47 नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है,
उस पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार
(वीर सं. 2477 अषाढ़ कृष्णा 3 से प्रारम्भ)

प्रवचनसार में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित 275 गाथायें पूर्ण हुई हैं, अब श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव द्वारा रचित 'परिशिष्ट' पढ़ा जाता है। जिसप्रकार मंदिर के ऊपर कलश चढ़ाते हैं, उसीप्रकार इस परिशिष्ट में 'आत्मा कैसा है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है' उसका वर्णन करके आचार्यदेव ने प्रवचनसार पर कलश चढ़ाया है। शास्त्र सभा में यह परिशिष्ट प्रथम बार पढ़ा जा रहा है।

शिष्य की जिज्ञासा और आचार्यदेव की करुणा

'यह आत्मा कौन है, कैसा है और उसकी प्राप्ति कैसे हो ?' ऐसा प्रश्न किया जाये तो उत्तर पहले कहा जा चुका है और यहाँ फिर से कहा जाता है।

जिसे आत्मा की बहुत आतुरता लगी हो, वह शिष्य बारबार आत्मा की बात पूछता रहता है। जिसप्रकार जिसे पुत्र का प्रेम है, वह बारबार उसे संभालता है, उसीप्रकार जिसे आत्मा की प्रीति जागृत हुई है, आत्मा का कल्याण करने की आतुरता जागृत हुई है, वह जीव आत्मा का स्वरूप समझने के लिए बारंबार प्रश्न करता है। जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता मालूम हो, उस ओर उसके श्रद्धा-ज्ञान और पुरुषार्थ ढले बिना नहीं रहते। शिष्य को आत्मा की रटन लगी है, इसलिए बारबार वह प्रश्न करता है कि प्रभो ! यह मेरा आत्मा कैसा है ? और उसकी प्राप्ति कैसे हो ? ऐसा प्रश्न करनेवाले शिष्य को आचार्यदेव पुनः आत्मा का स्वरूप समझाते हैं, 'यह आत्मा कौन है' - ऐसा प्रश्न करनेवाले शिष्य को आत्मा की दरकार हुई है, इसलिए उसकी रुचि और ज्ञान का प्रयत्न आत्मस्वभाव की ओर ढले बिना नहीं रहेगा।

यहाँ आचार्यदेव भगवान कहते हैं कि 'यदि प्रश्न किया जाये तो' हम उसका उत्तर कहते हैं। जिसे समझनाने के लिए आतुरता से प्रश्न उठा है, ऐसे शिष्य को हमारा उपदेश है, कपड़े की फेरी लगानेवाले की भांति या शाकभाजी बेचने वाले की भांति किसी के घर जाकर बलात् नहीं समझाते, जिसे तृषा नहीं लगी हो, उसे पानी नहीं पिलाते, जिसे क्षुधा नहीं लगी, उसे खिलाते नहीं हैं, उसीप्रकार जिन्हें आत्मा की दरकार नहीं हुई है, ऐसे जीवों को हम सुनाते नहीं हैं, किन्तु जिन्हें आत्मा की आतुरता है, उन्हीं को हमारा उपदेश है।

श्रीगुरु के निकट जाकर 'आत्मा कौन है' – ऐसा पूछने वाले जीव को प्रथम तो आत्मा के अस्तित्व की श्रद्धा है, सच्चे देव-गुरु कैसे होते हैं, उसकी श्रद्धा है और वैसे गुरु के पास जाकर आत्मा समझने के लिए पुकार की है, ऐसे सुपात्र शिष्य को आचार्यदेव इस परिशिष्ट द्वारा समझाते है, वह शिष्य आत्मस्वरूप को प्राप्त किये बिना नहीं रहेगा। शिष्य को मात्र एक आत्मा समझने की आतुरता है, इसलिए अन्य कोई उलटे-सीधे प्रश्न न पूछकर आत्मा का ही प्रश्न किया है कि प्रभो ! यह आत्मा कैसा है और उसकी प्राप्ति कैसे हो ? पुण्य-पाप की, स्वर्ग-नरक की या कर्म की बात नहीं पूछी, किन्तु आत्मा की ही बात पूछी है। अन्य सब जानकारी तो अनंतबार की है किन्तु अपना आत्मा कैसा है, वही पहले कभी नहीं जाना है, इसलिए शिष्य वही समझना चाहता है। पुण्य कैसे हो और स्वर्ग कैसे मिले – यह बात शिष्य नहीं पूछता, किन्तु आत्मा कैसा है और उसकी प्राप्ति कैसे हो ? ऐसा पूछता है, उस प्रश्न में ही उसकी आत्मा समझने की पात्रता आ जाती है।

पुनश्च, प्रश्न पूछने में भी 'यह आत्मा कैसा है' ऐसा कहकर अपने आत्मा को पृथक् करके पूछता है। 'यह आत्मा' ऐसा कहने में स्वयं अपने आत्मा की ओर उन्मुख होना चाहते हैं, दूसरे आत्माओं की ओर नहीं देखता। स्वयं अन्तर्मुख होकर अपने आत्मा को जानने से दूसरों के आत्मा कैसे हैं, वह भी ज्ञात हो जाता है, क्योंकि जैसा अपने आत्मा का स्वभाव है, वैसा ही प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है।

हे प्रभो ! यह मेरा आत्मा कैसा है ? वह मैं जानना चाहता हूँ' – ऐसा प्रश्न करनेवाले शिष्य को आत्मा की इतनी आतुरता है कि वह मोक्ष की योग्यतावाला ही है, वह अल्पकाल में आत्मा को समझकर मोक्ष प्राप्त करनेवाला है, ऐसा प्रश्न जिसके अंतर में उठा, वह मोक्ष प्राप्त किये बिना रह ही नहीं सकता। पहले जो कुछ सुना और जाना है, वह सब जानकारी पर शून्य रखकर, पक्षपात

छोड़कर श्रीगुरु के निकट जाकर विनयपूर्वक प्रश्न करता है कि हे भगवान ! यह मेरा आत्मा कैसा है और अपने को अपनी प्राप्ति कैसे हो ? ऐसा पूछनेवाले को पर की-पैसादि की या पुण्यप्राप्ति की भावना नहीं है किन्तु आत्मस्वभाव को जानकर उसी की प्राप्ति की भावना है, इसलिए जिज्ञासु होकर मात्र आत्मा का ही प्रश्न पूछा है।

यद्यपि 'आत्मा कौन है और यह कैसे प्राप्त हो' यह बात पहले कही जा चुकी है, परन्तु यहाँ शिष्य को जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिए श्री आचार्यदेव इस परिशिष्ट में पुनः वह बात समझाते हैं।

अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव ने बाह्य में पर का तो कुछ किया ही नहीं है, पर को लेना या छोड़ना, वह आत्मा के हाथ की बात है ही नहीं। अनादि से अज्ञानभाव से जीव ने विकारी भाव ही किये हैं और उन्हीं को अपना स्वरूप मानकर भटका है। उसके बदले अब आत्मा का हित करने का-आत्मा के आनंद की प्राप्ति करने का जिसे भाव हुआ है, ऐसा शिष्य आत्मा समझने के लिए प्रश्न करता है। अनादि से जो कुछ किया है, उसकी अपेक्षा कुछ नवीन करना है - ऐसे शिष्य को आंतरिक जिज्ञासा से प्रश्न उठा है कि प्रभो ! यह आत्मा कौन है और उसकी प्राप्ति कैसे हो ? ऐसे शिष्य को समझाने के लिए इस परिशिष्ट द्वारा पुनः यह बात कही जाती है।

जिसे आत्मा का स्वरूप जानकर उसे प्राप्त करने की पिपासा जागृत हुई है, 'मैं कौन हूँ' - ऐसा जिज्ञासा का प्रश्न उठा है, और 'आत्मा कैसे प्राप्त हो, किसप्रकार उसका अनुभव हो' - ऐसा प्रश्न जिसे उठा है, ऐसे शिष्य को आचार्यदेव पुनः आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं। पहले ज्ञान-अधिकार, ज्ञेय अधिकार और चरणानुयोग में जो वर्णन किया, उसमें आत्मा कौन है और उसकी प्राप्ति कैसे हो - यह दोनों बातें आ तो जाती हैं, किन्तु यहाँ पुनः दूसरे ढंग से आचार्यदेव वह बात समझाते हैं।

शिष्य के प्रश्न में दो बातें रखी हैं, एक तो आत्मा कैसा है ? और दूसरा, वह किसप्रकार प्राप्त हो ? आत्मा कैसा है, उसका ज्ञान करूँ और उसकी प्राप्ति की क्रिया करूँ - इसप्रकार शिष्य के प्रश्न में सम्यग्ज्ञान और चारित्र दोनों की बात आ जाती है। शिष्य पात्र होकर पूछता है कि हे नाथ ! मेरा आत्मा कौन है, उसे जाने बिना मैं अनादि से संसार में परिभ्रमण कर रहा हूँ, इसलिए 'आत्मा का स्वरूप क्या है' और उसकी प्राप्ति किसप्रकार हो ? वह मुझे समझाइये कि जिसे समझकर मैं आत्मा की प्राप्ति करके परमात्मा हो जाऊँ और मुझे अवतार न रहे।'

देखो ! शिष्य कोई उलटे-सीधे प्रश्न नहीं करता, किन्तु 'यह मेरा आत्मा कैसा है' - ऐसा ही पूछता है। जिसप्रकार बाजार में जाये, वहाँ जो वस्तु लेना हो, उसका भाव पूछता है। जिसे बहुमूल्य हीरे खरीदना हों, वह कहीं शाक-भाजी वाले की दुकान पर भाव पूछने नहीं जाता, उसीप्रकार जिस शिष्य को आत्मा की दरकार हुई है, वह पूछता है कि हे प्रभो ! आत्मा कैसा है और उसकी प्राप्ति कैसे हो ? वह समझाइये।

- ऐसा पूछनेवाले जिज्ञासु शिष्य को आचार्यदेव पुनः विशेषरूप से इस परिशिष्ट द्वारा समझाते हैं, पहले वह कथन आ तो गया है, किन्तु जिज्ञासु के लिए अभी पुनः कहा जाता है। हम निरर्थक बकवाद नहीं करते, और किसी के घर जाकर बलात् उपदेश नहीं देते, किन्तु विनय से समझने के लिए जो जिज्ञासु पूछता है, उससे कहा जाता है, यह बात 'प्रश्न किया जाये तो' ऐसा कहकर आचार्यदेव ने बतला दी है। प्रश्न की भाषा तो जड़ है, किन्तु उसका वाच्यभाव ऐसा है कि शिष्य को अंतर में उसप्रकार की-आत्मा को समझने की भावना जागृत हुई है। ऐसे पात्र शिष्य को समझाने के लिए हम पुनः आत्मा का वर्णन करते हैं। देखो, आचार्य प्रभु की करुणा और शिष्य की पात्रता।

आत्मा कैसा है, उसे जानकर मुझे अपना कल्याण करना है - ऐसी जिसे भावना हुई हो, उसी को ऐसा प्रश्न उठता है और उसी को आचार्यदेव समझाते हैं। जो जीव समझकर स्थिर हो गया हो, उसे तो ऐसे प्रश्न का विकल्प नहीं उठता और जिसे समझाने की दरकार ही नहीं है, उसे भी ऐसी जिज्ञासा का प्रश्न नहीं उठता और न उसके लिए यह कहा जाता है। किन्तु जिसे अंतर में जिज्ञासा जागृत हुई है और विनय से पूछता है, ऐसे शिष्य के लिए आचार्यदेव पुनः 'आत्मा कैसा है' वह कहते हैं -

अनंत नयात्मक श्रुतप्रमाण से प्रमेय होनेवाला आत्मा

'प्रथम तो, आत्मा वास्तव में चैतन्य सामान्य द्वारा व्याप्त अनंत धर्मों को अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है, क्योंकि अनंत धर्मों में व्याप्त जो अनंतनय हैं, उनमें व्याप्त जो एक श्रुतज्ञान स्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा (वह आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है-ज्ञात होता है।'

यह भगवान आत्मा एक द्रव्य है और उसमें अनंत धर्म हैं। प्रत्येक आत्मा अनंत धर्मों का

अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है। अनंत धर्म चैतन्य सामान्य द्वारा व्याप्त हैं, उन अनंत धर्मों के रहने का स्थान आत्मा है। धर्म अनंत होने पर भी उन्हें धारण करनेवाला एक ही द्रव्य है। जगत में सर्व मिलकर एक ही आत्मा है, ऐसा नहीं है। जगत में भिन्न-भिन्न अनंत आत्मा हैं और वह प्रत्येक आत्मा अनंत धर्मवाला है। प्रत्येक अनंत धर्मों के आधाररूप एक द्रव्य है, क्योंकि अनंत धर्मों को जाननेवाले को अनंतनय हैं, उनमें व्याप्त एक श्रुतज्ञान प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से आत्मा ज्ञात होता है।

एक आत्मपदार्थ में अनंत धर्म हैं और उसे जाननेवाले श्रुतप्रमाण में अनंतनय हैं। एक-एक धर्म को जाननेवाला एक-एक नय, इसप्रकार अनंत धर्मों को जाननेवाले अनंत नय हैं, जिसप्रकार अनंत धर्म एक आत्मद्रव्य में समा जाते हैं, उसीप्रकार अनंत नय एक श्रुतज्ञान में समा जाते हैं। जिसप्रकार अपने अनंत धर्मों में एक द्रव्य व्याप्त है, उसीप्रकार उन धर्मों को जाननेवाले अनंत नयों में एक श्रुतज्ञान प्रमाण व्याप्त है। कोई कहे कि 'छद्मस्थ को अपने आत्मा की खबर नहीं पड़ती' तो यह बात मिथ्या है। यहाँ तो कहा है कि अनंत धर्मों वाला पूर्ण आत्मा ज्ञात हो जाता है, स्वसन्मुख ढलनेवाले श्रुतज्ञान से पूर्ण आत्मा स्वानुभव में आ जाता है।

आत्मा कैसा है ? और वह किसप्रकार ज्ञात हो ? यह दोनों बातें इसमें आ जाती हैं।

आत्मा कैसा है ? आत्मा वास्तव में चैतन्य सामान्य से व्याप्त अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है।

वह आत्मा किसप्रकार ज्ञात होता है ? तो कहा कि आत्मा के अनंत धर्मों को जाननेवाले जो अनंतनय हैं, उनमें व्याप्त श्रुतज्ञान प्रमाण द्वारा स्वानुभव से आत्मद्रव्य ज्ञात होता है।

यहाँ अनंत धर्मात्मक अपना आत्मा प्रमेय है और अनंत नयात्मक श्रुतज्ञान, सो प्रमाण है, ऐसे प्रमाण द्वारा स्वानुभव से अपना आत्मा प्रमेय होता है-ज्ञात होता है। पर निमित्त से या राग के विकल्प से ऐसा आत्मा प्रमेय नहीं होता, किन्तु साधक को स्वसन्मुख ढलते हुए श्रुतज्ञान से ही ऐसा आत्मा प्रमेय होता है। अनंत धर्मवाले आत्मा को जैसा वह है, वैसा न माने तो उसका निर्विकल्प स्वसंवेदन नहीं होगा। ऐसे आत्मा को स्वानुभव से यथावत् जानना, सो धर्म है।

यहाँ आत्मा को अनंत धर्मोंवाला कहा है, तो धर्म का अर्थ क्या ? धर्म का अर्थ है वस्तु का स्वभाव। प्रत्येक वस्तु में अपने-अपने अनंत स्वभाव विद्यमान हैं, उसे यहाँ धर्म कहते हैं। जड़-पुद्गल में भी उसके अनंत धर्म विद्यमान हैं, किन्तु यहाँ तो शिष्य ने 'आत्मा कैसा है' ऐसा प्रश्न

किया है, इसलिए आत्मा के धर्म की बात है। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य, पुरुषार्थ, नियत आदि अनंत स्वभाव विद्यमान हैं, वे सब उसके धर्म हैं, अपने उन धर्मों से धर्मी ऐसा आत्मा पहिचाना जाता है। यहाँ धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग है, उसका वर्णन नहीं है, किन्तु वस्तु अनंत धर्मस्वरूप, उसका यह वर्णन है। ऐसे अनंत धर्मोंवाले आत्मा को जानकर उसकी रुचि और उसमें एकाग्रता करने से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है, वह मोक्षमार्गरूप धर्म है।

वस्तु में जो अनंतधर्म स्वयंसिद्ध हैं, वे ही ज्ञान में ज्ञात होते हैं। वस्तु के अनंत धर्मों को कहीं नवीन नहीं बनाना पड़ता, वस्तु तो स्वभाव से ही वैसी है, किन्तु जब उस वस्तु का ज्ञान हुआ, तब सम्यग्ज्ञान नवीन प्रगट होता है और वस्तु में अनंत धर्म कहीं एक के पश्चात् एक नहीं हैं, किन्तु समस्त धर्म एक साथ ही हैं और वे अनंत धर्म एक साथ ज्ञान में आ जाते हैं, अनंत धर्मों को जानने के लिए अनंतकाल नहीं लगता। जहाँ श्रुतज्ञान को स्वसन्मुख करके भीतर स्वभाव में एकाग्र किया, वहाँ अनंत धर्मों का चैतन्यपिण्ड स्वसंवेदन में आ जाता है। एक-एक धर्म को पृथक् करके अनंतधर्म छद्मस्थ को भले ज्ञात न हों, किन्तु जहाँ अंतर स्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ अनंत गुणों का पिण्ड भगवान आत्मा श्रुतज्ञान के स्वसंवेदन में आ जाता है। अनंत धर्मोंवाले आत्मा का अनुभव करने के लिए अनंतधर्म के भेद करके भिन्न-भिन्न विकल्प नहीं करना पड़ते क्योंकि अनंत धर्मों को धारण करनेवाला धर्मी एक है। जिसप्रकार आत्मा अनंत धर्मों का स्वामी एक है। उसीप्रकार उसे जाननेवाला श्रुतज्ञान भी अनंत नयों का स्वामी एक ही है। इसलिए एक धर्म को पृथक् करके भेद के विकल्प द्वारा पूर्ण आत्मा प्रमेय नहीं होता और पूर्ण आत्मा को प्रमेय किये बिना ज्ञान प्रमाण नहीं होता। ज्ञान में अनंत नय हैं और पदार्थ में अनंत प्रकार के धर्म हैं, ज्ञान अनंत नयोंवाला होने पर भी प्रमाणरूप से वह एक है, उसीप्रकार पदार्थ अनंत धर्मोंवाला होने पर भी वस्तुरूप से वह एक है, ऐसे प्रमाण और प्रमेय की एकता होने से अर्थात् श्रुतज्ञान प्रमाण स्वसन्मुख होकर अभेद आत्मा में ढलने से आत्मा का अनुभव होता है, आत्मा ज्ञात होता है।

आत्मा स्वयं वास्तव में अनंत धर्मों का स्वामी है। अनंत गुण-धर्म, पर्यायें या अपेक्षित धर्म - उन सबका पिण्ड आत्मा है, उन सभी धर्मों को आत्मा वास्तव में धारण करता है। आत्मा के किसी धर्म में पर की अपेक्षा भले आती हो किन्तु उसके कोई भी गुण-पर्याय अथवा धर्म पर के

कारण नहीं है। नित्य-अनित्यपना या गति-स्थिति आदि धर्म उसके अपने हैं, उन धर्मों को भी आत्मा ही धारण कर रखता है, कहीं काल आदि निमित्तों के कारण वे धर्म नहीं हैं। अशुद्धता में कर्म निमित्त है, इसलिए वह अशुद्धता कर्म के कारण होती है - ऐसा नहीं है, अशुद्धता भी अपनी ही पर्याय का धर्म है। आत्मा का एक भी धर्म पर के आधार से नहीं है। शुद्धता या अशुद्धतारूप होनेवाला वह स्वयं ही है। कर्म के कारण अशुद्धता होती है - ऐसा नहीं है, अशुद्धता होने की योग्यतारूप धर्म भी अपना है, काल के कारण आत्मा परिणमित हो - ऐसा नहीं है, परिणमित होने का धर्म अपना है। धर्मास्तिकाय के कारण आत्मा गति करे - ऐसा नहीं है। गति करनेरूप धर्म अपना है, उसीप्रकार अधर्मास्तिकाय के कारण आत्मा स्थिति को प्राप्त होता है, ऐसा नहीं है, स्थिर रहनेरूप धर्म भी उसका अपना ही है, इसप्रकार अपने समस्त धर्मों का स्वामी आत्मा स्वयं ही है। काल आदि अन्य निमित्त जगत में भले हों, किन्तु आत्मा के धर्म कहीं निमित्त के आधार से नहीं हैं, धर्म तो आत्मद्रव्य के ही आधार से हैं। सिद्ध भगवान के प्रतिसमय परिणमन होता है, उनका वह परिणमन धर्म कहीं कालद्रव्य के आधीन नहीं है, किन्तु परिणमन होने का उस आत्मा का अनादि-अनंत धर्म है। इसप्रकार प्रत्येक आत्मा स्वयं अपने अनंत धर्मों का स्वामी है।

आत्मद्रव्य में अनंत धर्म हैं और उन अनंत धर्मों को जाननेवाले अनंतनय हैं, उन अनंत नयों में व्याप्त एक श्रुतज्ञान प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से आत्मा ज्ञाता होता है। सम्पूर्ण श्रुतज्ञान, वह प्रमाण है और उसका एक पक्ष, वह नय है। प्रमाण सम्पूर्ण वस्तु को जानता है और नय एक-एक धर्म को जानता है। यहाँ तो, जो नय जिस धर्म में व्याप्त हो जाता है - ऐसा कहकर आचार्यदेव नय को और नय के विषय को अभेद बतलाते हैं। जिस धर्म के सन्मुख होकर उसे जो नय जानता है, उस धर्म के साथ वह नय अभेद हो जाता है, इसलिए अपने में नय और नय का विषय एक हो जाता है।

इस प्रवचनसार के तीन अधिकारों में वस्तुस्वरूप का बहुत-सा वर्णन करने के पश्चात् अब तो यह अन्तिम परिशिष्ट है, इसमें आचार्यदेव ने बहुत स्पष्टता की है। शास्त्र में भले ही निमित्त से ऐसा कथन किया हो कि कर्म के कारण विकार होता है, धर्मास्तिकाय के कारण जीव-पुद्गल गति करते हैं, काल के कारण वस्तु होती है - ऐसे चाहे जितने कथन निमित्त से किये हों, किन्तु ऐसा समझना चाहिए कि उस-उसप्रकार का धर्म वस्तु का अपना ही है, निमित्त के कारण उसका धर्म नहीं है। किसी वस्तु का कोई भी धर्म अन्य वस्तु के कारण नहीं होता, प्रत्येक वस्तु स्वयं अपने

अनंत धर्मोंवाली है। प्रत्येक आत्मा स्वयं अपने अनंत धर्मों का स्वामी है।

अहा ! आचार्यदेव ने संक्षिप्त कथन में बहुत सार भर दिया है। आचार्यदेव कहते हैं कि यहाँ थोड़े से धर्मों का वर्णन किया है, वह थोड़ा लिखा बहुत जानना। 'थोड़ा लिखा बहुत जानना' – ऐसा कब कहा जाता है ? यदि कुछ लिखा ही न हो तो ऐसा नहीं कहा जा सकता, थोड़ा-सा मुख्य विषय लिखा हो तो फिर 'थोड़ा लिखा बहुत जानना' – ऐसा कहा जाता है। उसीप्रकार यहाँ आत्मा के अनंत धर्म हैं, उनमें से कुछ मुख्य धर्मों का वर्णन आचार्यदेव ने किया है, उन प्रयोजनभूत धर्मों को जानकर पश्चात् ऐसे दूसरे अनंत धर्म सर्वज्ञदेव ने जाने उसप्रकार से हैं' – ऐसी प्रतीति करे तो वह ठीक है, परन्तु आत्मा क्या है और उसके धर्म क्या हैं – वह कुछ नहीं जाने, प्रयोजनभूत वस्तु का निर्णय न करे और भगवान ने कहा वह सच्चा – ऐसा मात्र ओधिकरूप से मान ले तो उससे अपने को कुछ लाभ नहीं हो सकता।

यहाँ 'वास्तव में' शब्द का उपयोग करके आचार्यदेव कहते हैं कि वस्तु में अनंत धर्म कहीं कल्पना से नहीं कहते किन्तु वास्तव में वस्तु में ही वे अनंत धर्म हैं। वस्तु में वाच्य रूप जो धर्म है, उन्हीं का यह कथन है और वही ज्ञान में ज्ञात होते हैं। यदि वस्तु में ऐसा वाच्य न हो तो उसका कथन भी न हो और उसे जाननेवाला ज्ञान भी न हो। इसलिए वस्तु में अनंत धर्म, उन धर्मों को जाननेवाला ज्ञान और उसका कथन – यह तीनों सत् हैं, यथार्थ हैं।

वस्तु जैसी हो, वैसी परिपूर्ण जिस ज्ञान में ज्ञात हो, उस ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण अर्थात् वस्तु का माप करनेवाला ज्ञान। 'प्र' अर्थात् विशेष रूप से और 'माण' अर्थात् माप। जिसप्रकार मण अनाज आदि वस्तुओं का माप करनेवाला है, यहाँ भी उस माप को जानने वाला तो ज्ञान ही है, उसीप्रकार आत्मा को अनंत धर्मों को जाननेवाला-आत्मा का माप करनेवाला भी ज्ञान है। अनंत धर्मों का कथन करनेवाली वाणी निमित्त है, किन्तु उस वाणी को आत्मा के धर्मों की खबर नहीं है, वाणी और धर्म – दोनों को जाननेवाला तो ज्ञान है, वह ज्ञान ही प्रमाण है।

देखो भाई ! अनंत धर्मों वाला अपना आत्मा है, उसकी यह बात है। यह बात समझने जैसी है। जिसप्रकार रुपयों का ढेर पड़ा हो, उसे गिनने की कैसी उमंग उठती है। तो यहाँ तेरे आत्मा में एक समय में अनंत धर्मों का ढेर पड़ा है, अंतर्मुख होकर उसका माप करने की तुझे उमंग उठती है ? यदि उसका माप करना हो तो वह तेरे श्रुतज्ञान प्रमाण से ही होता है, किसी पर निमित्त से या राग से

उसका माप नहीं होता, किन्तु ज्ञान को अंतरोन्मुख करे तो उस ज्ञान से ही आत्मा का माप होता है। अंनत धर्मों की संपत्ति प्रत्येक आत्मा में सदैव भरी पड़ी है, किन्तु अंतर्मुख होकर उसे जानने की अज्ञानी ने कभी दरकार नहीं की। आत्मा के अनंत धर्मों में किंचित् मात्र न्यूनता मानेगा तो नहीं चल सकता और न उस संपत्ति को माप करने में किसी पर की सहायता काम आयेगी। जिसप्रकार घर की संपत्ति पेटी में रखना हो तो बाहर के मजूरों से वह काम नहीं करवाता, किन्तु घर का मुख्य आदमी ही वह कार्य करता है, उसीप्रकार आत्मा के स्वभावगृह की जो अपार संपत्ति है, उसका माप किसी बाह्य साधन से नहीं होता, किन्तु स्वयं अपने श्रुतज्ञान प्रमाण को अंतरोन्मुख करे, तभी उसका यथार्थ माप और स्वानुभव होता है। अपने अनंत धर्मों को जाननेवाला ज्ञान अपने पास ही है, उस ज्ञान को अंतरस्वभावोन्मुख करें, तभी आत्मा ज्ञात होता है, उसमें अन्य किसी का ज्ञान अपने काम में नहीं आता। 'गुरु का ज्ञान तो हमारे आत्मा को जानता है न ?' ऐसा कोई कहे तो उसका स्पष्टीकरण – गुरु का ज्ञान दूसरों के आत्मा को भी जानता है, यह बात ठीक है, किन्तु वह गुरु का ज्ञान तो गुरु के पास रहा, उससे दूसरों को क्या लाभ ? गुरु का ज्ञान उनके अपने आत्मा को ही स्वद्रव्यरूप से जानता है, यह आत्मा उनके ज्ञान में परद्रव्यरूप से ज्ञात होता है, वे कहीं इस आत्मा के धर्मों को स्वामीरूप से नहीं जानते, उनके अपने आत्मा के धर्मों को ही वे स्वामीरूप से जानते हैं। उनकी भांति यह आत्मा भी यदि स्वयं अपने ज्ञान को अंतरोन्मुख करे तो वह ज्ञान अपने अनंत धर्मों को स्वामीरूप से जानता है अर्थात् स्वयं अपने आत्मा को स्वद्रव्यरूप से जानता है और वह ज्ञान ही अपने को परमानंद का कारण होता है। इसके अतिरिक्त अपने आत्मा को स्वद्रव्यरूप से जानने के लिए किसी पर का ज्ञान काम नहीं आता। प्रमेय भी स्वयं ही है और प्रमाण ज्ञान भी अपना ही है।

धर्म अनंत हैं, किन्तु वस्तु एक ही है, नय अनंत हैं, किन्तु प्रमाण एक ही है।

अनंत नय हैं, वे सब एक श्रुतज्ञान प्रमाण में समा जाते हैं, श्रुतज्ञान प्रमाण से नय पृथक् नहीं रह जाता, अनंतधर्म हैं, वे सब एक वस्तु में समा जाते हैं, वस्तु का एक भी धर्म पृथक् नहीं रह जाता। प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा ही आत्मद्रव्य अपने को प्रमेय होता है। अनंत धर्म और अनंत नय हैं – ऐसा बतलाया अवश्य है, किन्तु अनुभव में उन धर्मों का अथवा नयों का भेद नहीं रहता, अभेद हो जाते हैं। एक अभेद श्रुतप्रमाण स्वानुभव से सम्पूर्ण वस्तु को जानता है। श्रुतज्ञान में अनंतनयरूप से भेद हैं किन्तु प्रमाणरूप से वह अभेद है, उसीप्रकार वस्तु में अनंत धर्मरूप से भेद

हैं और वस्तुरूप से एक अभेद है। जिसप्रकार वस्तु में अभेद और भेद ऐसे दो प्रकार पड़ते हैं, उसीप्रकार उसे जाननेवाले ज्ञान में भी अभेद और भेद अर्थात् प्रमाण और नय – ऐसे दो प्रकार छद्मस्थ के होते हैं।

आत्मा कैसा है – ऐसा शिष्य ने पूछा था, उसका यह वर्णन चलता है। जिसे अंतर से खटका मारता हुआ आत्मा का प्रश्न उठा, ऐसे शिष्य को आत्मा समझ में आकर मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी। जिसे आत्मा को समझने आतुरता जागृत हुई है, वह जीव अनंत धर्मवाले आत्मा को समझेगा और अनंत धर्मों में जितने अव्यक्त-शक्तिरूप हैं, वे सब उसे पूर्ण व्यक्त हो जायेंगे। अनंत धर्मवाले आत्मा की रुचि-प्रतीति की, उसके केवलज्ञानादि समस्त धर्म विकसित हुए बिना नहीं रहते। केवलज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष प्रमाण है, श्रुतज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं है, तथापि केवलज्ञान में जैसा आत्मा ज्ञात हुआ, वैसा ही आत्मा श्रुतज्ञानप्रमाण से परोक्ष ज्ञात होता है। श्रुतज्ञान परोक्ष होने पर भी वह संदेहवाला नहीं है, किन्तु नि:संदेह है। श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है, उस ज्ञान को अंतरोन्मुख करके जिसने अनंत धर्मवाले आत्मा को स्वीकार किया, उसे उसमें एकाग्रता होकर केवलज्ञान रूप प्रत्यक्ष प्रमाण विकसित हो जायेगा और अनंत धर्मोंवाली वस्तु भी उसके ज्ञान में प्रत्यक्ष हो जायेगी, इसलिए स्वज्ञेय और ज्ञान दोनों पूर्ण हो जायेंगे।

केवलज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष है और श्रुतज्ञान परोक्ष है, वह परोक्ष होने पर भी स्वसंवेदन में अंशत: प्रत्यक्ष है, श्रुतज्ञान अंतर्मुख होने से रागरहित चैतन्य स्वसंवेदन का जो अंश है, वह तो प्रत्यक्ष है। आत्मा के अनंत धर्मों को श्रुतज्ञान परोक्ष जानता है। परोक्ष है, तथापि वह ज्ञान भी प्रमाण है। नि:संदेहरूप है। उस परोक्ष प्रमाण से जिसने अपने आत्मा का अनुभव किया, उसे पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रमाण हुए बिना नहीं रहेगा।

श्रुतज्ञान प्रमाण होने पर भी वह पूर्णज्ञान नहीं है, पूर्णज्ञान तो केवलज्ञान है, श्रुतज्ञान अपूर्ण है। पूर्णज्ञान हो जाने के पश्चात् उसमें नय नहीं होते। श्रुतज्ञान अपूर्ण है, तथापि वह भी यथार्थ प्रमाण है, केवली ने जैसा जाना, वैसे यथार्थ आत्मा को वह भी परोक्ष रूप से बराबर जानता है। साधक को ऐसे श्रुतज्ञान प्रमाण से स्वानुभव द्वारा आत्मा ज्ञात होता है।

यहाँ श्रुतज्ञान में अनंत नय और वस्तु में अनंत धर्मों की स्थापना की है, यह बात जमे बिना प्रमेय पदार्थ ज्ञात नहीं होता और श्रुतज्ञान प्रमाण नहीं होता अर्थात् प्रमाण और प्रमेय की एकता नहीं

होती और न वहाँ आत्मा की प्राप्ति होती है। जिस वस्तु को प्राप्त करना हो, उसे प्रथम बराबर पहिचानना तो चाहिए न ! भगवान आत्मा की प्राप्ति करके परमात्मा होने के लिए पहले उसका यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। आत्मा का ज्ञान किसप्रकार होता है, उसका यह वर्णन हो रहा है। जो श्रुतज्ञान अनंत नयोंवाला है – ऐसे श्रुतज्ञानपूर्वक स्वानुभव से आत्मा ज्ञात होता है।

श्रुतज्ञान अनंत नयोंवाला कब होता है ? कि अनंत धर्मोंवाले एक आत्मा को जाने तब। यदि ऐसा न जाने और आत्मा को सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, सर्वथा शुद्ध या सर्वथा अशुद्ध – इत्यादिरूप से एक ही धर्मवाला मान ले तो उसने माना हुआ आत्मा पूर्ण (अनंत धर्मात्मक) नहीं होगा और उसका श्रुतज्ञान भी अनंत नयोंवाला नहीं होगा अर्थात् प्रमाणज्ञान नहीं होगा किन्तु मिथ्याज्ञान ही रहेगा। इसलिए यहाँ ऐसा कहा है कि अनंत नयवाले श्रुतज्ञान प्रमाण से स्वानुभव द्वारा आत्मा ज्ञात होता है। ऐसे श्रुतज्ञान को या आत्मा के अनंतधर्मों को जो स्वीकार न करे, उसे आत्मा का स्वानुभव कभी सच्चा नहीं होता।

इस जगत में अनंत आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, प्रत्येक आत्मा में अनंत धर्म हैं, उस एक धर्म को जाननेवाला एक-एक नय है, ऐसे अनंत नयोंवाला एक श्रुतज्ञान प्रमाण है और उन धर्मों का कथन करनेवाली वाणी – इन सबको यदि स्वीकार न करे तो श्रुतज्ञान प्रमाण होकर आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता। सम्पूर्ण आत्मा के स्वानुभव बिना उसके एक-एक अंश का, एक-एक धर्म का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता और उसके सम्यक् नय भी नहीं होते, इसलिए उसका ज्ञान मिथ्या, उसकी वाणी मिथ्या और उसका माना हुआ धर्म भी मिथ्या है। यहाँ तो साधक जीव की बात है। साधक जीव अनंत धर्मवाले आत्मा का श्रुतज्ञानप्रमाण से अनुभव करता है और उसी को सम्यक् नय होता है। वह नय-प्रमाण से आत्मा को कैसा जानता है, उसका यहाँ वर्णन करते हैं। यह नय साधक के होते हैं, अज्ञानी या केवली के नय नहीं होते। केवली को तो केवलज्ञान में आत्मा पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञात हो गया है और पूर्णता हो गई है, इसलिए अब उनको नय से कोई भी साधना करना नहीं रहा है और अज्ञानी को तो वस्तु का भान ही नहीं है, इसलिए उसके भी नय नहीं होते। नय श्रुतज्ञान प्रमाण का अंश है, वह साधक के ही होता है।

आत्मा के ज्ञान की पाँच प्रकार की अवस्था है – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान। उनमें से मुख्यरूप से श्रुतज्ञान ही आत्मा का साधक हो सकता है, क्योंकि

केवलज्ञान तो छद्मस्थ जीव के होता नहीं है, अवधि और मन:पर्यय ज्ञान का विषय परपदार्थ है; इसलिए वे भी साधक नहीं होते। मतिज्ञान सामान्यरूप से जानता है, इसलिए उसमें नय नहीं पड़ते, श्रुतज्ञान प्रमाण ही अनंत धर्मवाले आत्मा को जानता है और उस प्रमाण से ही आत्मा का स्वानुभव होता है। उस श्रुतज्ञान में नय होते हैं।

अनंत धर्मोंवाला आत्मा है, वह प्रमेय है और अनंत नयोंवाला श्रुतज्ञान है, वह प्रमाण है। उसमें से अब 47 नयों द्वारा आत्मा के 47 धर्मों का वर्णन करेंगे। वस्तु में अनंत धर्म हैं, उन सबका वाणी से भिन्न-भिन्न वर्णन नहीं हो सकता। वाणी में तो अमुक ही आते हैं। यहाँ 47 नयों से 47 धर्म कहकर आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, किन्तु उसमें दूसरे अनंत धर्म भी साथ ही आ जाते हैं। नय के समूह द्वारा आत्मा कैसा ज्ञात होता है, उसका यह वर्णन है। समस्त नयों का समूह, सो प्रमाण और समस्त धर्मों का समूह, सो प्रमेय वस्तु। ऐसे प्रमाणपूर्वक प्रमेय की ओर ढलने से स्वानुभव से आत्मा ज्ञात होता है।

हे प्रभो ! यह आत्मा कैसा है ? ऐसा शिष्य ने पूछा था, उसके उत्तर में आचार्यदेव ने पहले तो संक्षेप में कहा कि आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है और वह अनंत नयोंवाले श्रुतज्ञान प्रमाण से स्वानुभव द्वारा ज्ञात होता है।

अब आचार्यदेव 47 नयों से आत्मा का वर्णन करते हैं। यहाँ एक-एक नय से एक-एक धर्म का वर्णन है, किन्तु उसमें पूरा प्रमाण है और पूरा प्रमेय साथ ही आ जाता है।

आत्मा के किसी भी धर्म को स्वीकार करनेवाले, आत्मद्रव्य के सन्मुख देखकर ही उस धर्म को स्वीकार करते हैं, न कि पर सन्मुख, क्योंकि आत्मा के अनंत धर्मों में से कोई भी धर्म पर के आधार से नहीं है, किन्तु अनंत धर्म के पिण्डरूप आत्मद्रव्य के आधार से ही प्रत्येक धर्म विद्यमान है। इसलिए सम्पूर्ण धर्मी दृष्टि में आये बिना उसके एक-एक धर्म की स्वीकृति यथार्थ नहीं होती। नय से एक-एक धर्म को मुख्य करके देखनेवाला गौणरूप से अनंत धर्मवाली पूर्ण वस्तु को भी स्वीकार करता है, क्योंकि धर्म तो वस्तु का है। एक धर्म कहीं वस्तु से पृथक् होकर नय का विषय नहीं होता, इसलिए किसी भी नय का विषय नहीं होता, इसलिए किसी भी नय से एक धर्म को मुख्य करके देखनेवाले की दृष्टि भी अकेले धर्म पर होती नहीं है। धर्म तो धर्मी ऐसे अखण्ड वस्तु

के आधार से स्थित है, इसलिए उसी पर दृष्टि रखकर एक-एक धर्म का सच्चा ज्ञान होता है। समस्त नयों के वर्णन में यह बात मुख्यतया ध्यान में रखना चाहिए।

1. द्रव्यनय से आत्मा का वर्णन

वह अनंत धर्मात्मक आत्मद्रव्य द्रव्यनय से, पट मात्र की भांति, चिन्मात्र है।

अनंत धर्मात्मक पूर्ण आत्मद्रव्य है, वह प्रमाण का विषय है और नय से देखने पर वही आत्मद्रव्य एक धर्मात्मक दिखाई देता है। नय अर्थात् ज्ञान का पक्ष। वस्तु के सामान्य पक्ष को जाननेवाला ज्ञान, सो द्रव्यनय है। जिसप्रकार वस्त्र में कितने ताने बाने हैं, ऐसा तानेबाने का भेद किये बिना एक वस्त्ररूप से ही उसे जानना कि यह वस्त्र है, उसीप्रकार आत्मद्रव्य में अनंत गुण-पर्याय के भेदों को गौण करके 'आत्मा चिन्मात्र द्रव्य है' ऐसा सामान्यरूप से लक्ष में लेना उसका नाम द्रव्य है। आत्मा में तो एकसाथ अनंत धर्म हैं किन्तु उनमें से 'आत्मा चैतन्य मात्र द्रव्य है' - ऐसे धर्म की मुख्यता से आत्मा को लक्ष में लेने का नाम द्रव्यनय है। उस द्रव्यनय से देखने पर आत्मा चैतन्यमात्र है।

आचार्यदेव ने समस्त बोलों में उदाहरण देकर समझाया है। यहाँ वस्त्र का उदाहरण दिया है। जिस प्रकार वस्त्र में कितने ताने, कितनी लंबाई-चौड़ाई या कैसा रंग है - ऐसे किसी भेद को लक्ष में न लेकर एकरूप सामान्य वस्त्ररूप से देखने पर 'यह वस्त्र है' - ऐसा ज्ञात होता है, उसीप्रकार अनंत धर्मोंवाले आत्मा को द्रव्यनय से देखने पर सिद्ध या संसारी, साधक या बाधक ऐसे कोई पर्याय भेद या दर्शन-ज्ञान-चारित्र ऐसे गुण-भेदों को गौण करके एकरूप सामान्य चैतन्यरूप से आत्मा ज्ञात होता है। आत्मा में गुण-पर्याय के भेद किये बिना सामान्यरूप से देखने पर वह चैतन्यमात्र द्रव्य है, द्रव्यनय से ऐसा आत्मा प्रमेय होता है। इसप्रकार आत्मा के धर्म को जानकर श्रुतज्ञान को प्रमाण करके स्वानुभव करे, तभी अनंत धर्मात्मक आत्मा जैसा है, वैसा प्रमेय होता है।

'इतने अधिक नयों से आत्मा को जानने की क्या आवश्यकता है ?' मात्र 'आत्मा है' ऐसा जान ले तो नहीं चलेगा ? ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसका उत्तर - अरे भाई ! आत्मा है - ऐसा ओधिक रूप से तो सभी कहते हैं, किन्तु आत्मा में जैसे अनंतधर्म हैं, वैसे धर्मों से उसे पहिचाने, तभी आत्मा को जाना कहलाता है। 'आत्मा है' ऐसा कहे, किन्तु उसके अनंत धर्मों को यथावत् न

जाने तो उसने आत्मा को जाना नहीं कहलाता। अनेक लोग आत्मा है – ऐसा कहते हैं, किन्तु उसमें अनंत धर्म हैं, ऐसा नहीं मानते, या तो सर्वथा एकान्त नित्य अथवा एकान्त एकान्त अनित्य, एकान्त शुद्ध या एकान्त अशुद्ध मानते हैं, इसलिए यहाँ आचार्यदेव ने अनेक नयों से आत्मा के धर्मों का वर्णन करके वस्तुस्वरूप को बहुत ही स्पष्ट किया है।

इन नयों में विकल्प की या राग की मुख्यता नहीं है किन्तु वस्तुस्वरूप के ज्ञान की मुख्यता है। तत्त्व के अन्वेषण काल में अर्थात् वस्तुस्वरूप का निर्णय करने के लिए यह नय कार्यकारी हैं। इन नयों से वस्तु का निर्णय करना, वह ज्ञान की निर्मलता का कारण है।

आत्मा अपने अनंत धर्मों से और पर के अभाव से स्थायी द्रव्य है। यदि आत्मा अनंत धर्मों वाला न हो तो वह स्थायी रहकर बदले कैसे ? पर से भिन्न स्वरूप से कैसे रहे ? यदि आत्मा में 'नित्य' धर्म ही हो और 'अनित्य' धर्म न हो तो वह पलट ही नहीं सकता, यदि 'अनित्य' धर्म ही हो और 'नित्य' धर्म न हो तो वह नित्य स्थायी नहीं रह सकता, पलटने में उसका नाश ही हो जायेगा। पुनश्च, आत्मा में 'अस्ति' धर्म ही हो और 'नास्ति' धर्म न हो तो वह पररूप भी हो जायेगा। इसप्रकार नित्य-अनित्य, अस्ति-नास्ति आदि अनंत धर्म आत्मा में एकसाथ न रहें तो आत्मवस्तु ही सिद्ध नहीं होगी। अस्ति-नास्ति, द्रव्य-पर्याय आदि अनंत धर्मों के बिना आत्मा रह ही नहीं सकता और उसे जाननेवाला ज्ञान भी यदि अनंत नयोंवाला न हो तो उन अनंत धर्मों को नहीं जान सकता। अनंत धर्मात्मक एक आत्मा को अनंत नयात्मक एक ज्ञान से जाने, तभी आत्मा ज्ञात हो। पूर्ण अनंत धर्मात्मक पदार्थ का ज्ञान, सो प्रमाण है और वस्तु के एक-एक धर्म को जाने, वह एक-एक नय है। श्रुतज्ञान से आत्मस्वभाव को बराबर जानकर उपयोग को उसमें युक्त करने का नाम ही योग है। श्रुतज्ञान से आत्मा को यथावत् जाने बिना उसके साथ उपयोग की युक्तता नहीं होती, इसलिए ज्ञान उसमें एकाग्र नहीं हो सकता, उसमें एकाग्रता के बिना उसका ध्यान नहीं होता। जाने बिना ध्यान किसका ? पहले प्रमाण द्वारा ऐसे आत्मा को प्रमेय करे, तभी उसमें एकाग्रतारूप ध्यान हो सकता है, इसलिए प्रथम समस्त पक्षों से आत्मा का निर्णय करना चाहिए।

अनादिकाल से जीव ने सबकुछ किया है, किन्तु अपने आत्मस्वभाव को कभी नहीं जाना है, यदि एक बार भी आत्मा को बराबर जान ले तो उसके परम आनंद की प्राप्ति हुए बिना न रहे। आत्मा कौन है और वह कैसे प्राप्त होता है ? यह जानने की जिसे जिज्ञासा जागृत हुई है, ऐसे शिष्य

के प्रश्न का यह उत्तर चल रहा है। आत्मा कैसा है, उसका यह वर्णन हो रहा है, उसकी प्राप्ति का उपाय फिर कहेंगे। प्रथम आत्मा को यथावत् जाने बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती।

अनंत धर्मात्मक आत्मद्रव्य कहा, वह तो समान्य-विशेष का पिण्ड, प्रमाण का विषय है और यहाँ आत्मा को सामान्य चिन्मात्र कहा, वह द्रव्यनय का विषय है, विशेष को गौण करके एक सामान्य पक्ष है। अनंत धर्मात्मक एक आत्मद्रव्य वह प्रमाण का विषय है, उसकी बात पह की, अब यहाँ नय के विषय का वर्णन है। प्रमाण के विषय रूप जो सम्पूर्ण आत्मद्रव्य है, उसके एक धर्म को नय जानता है, नय का विषय वस्तु का एक धर्म है। गुण-पर्याय के भेद को गौण करके, सामान्य चिन्मात्र पक्ष से आत्मा को लक्ष में लेने का नाम द्रव्यनय है।

आत्मा के अनंत धर्मों में से यह एक धर्म है, उसके साथ दूसरे अनंत धर्म हैं, उन्हें यदि न माने तो ज्ञान प्रमाण नहीं होता। कोई ऐसा कहे कि 'आत्मा तो चैतन्य मात्र ही है और विकार तो पर के कारण होता है' तो ऐसा माननेवाले ने आत्मा के समस्त धर्मों को नहीं माना है। जिसप्रकार चैतन्यमात्रपना आत्मा का एक धर्म है, उसीप्रकार अवस्था में विकार हो तो वह भी आत्मा की पर्याय का धर्म है, उसे न माने तो प्रमाण ज्ञान नहीं होता।

आत्मा चैतन्यमात्र स्वभाव है, इसप्रकार जो आत्मा के चिन्मात्र धर्म को जानता है, वह जीव अपना ज्ञान बाहर से आना नहीं मानता, क्योंकि चैतन्य धर्म तो अपना है, उसी में से विशेश ज्ञान आता है, विशेष ज्ञान कहीं बाहर से नहीं आता। किसी शास्त्र में से या वाणी के श्रवण में से आत्मा का ज्ञान नहीं आता, ज्ञान तो आत्मा के चैतन्य मात्र धर्म में से ही आता है, वह धर्म आत्मा के अपने ही आश्रय से है। आत्मा का जो सामान्य चैतन्यस्वभाव है। वह स्वयं ही त्रिकाल विशेष रूप से परिणमित होता जाता है, अज्ञानी को भी उसका जो सामान्य चैतन्यस्वभाव है, वही विशेष ज्ञानरूप से परिणमित होता जाता है, किन्तु उसे उस सामान्य की प्रतीति नहीं है, इसलिए सामान्य के साथ विशेष की एकता वह नहीं करता किन्तु पर के साथ एकता मानता है, इसलिए उसका विशेष अयथार्थ होता है।

द्रव्यनय से आत्मा को चिन्मात्र कहा है, यह चिन्मात्र धर्म कहाँ देखना ? पर में नहीं किन्तु आत्मवस्तु में देखना चाहिए, क्योंकि वह धर्म पर में नहीं है किन्तु अपने में ही है।

प्रश्न – आत्मा तो अत्यन्त सूक्ष्म है, उसे देखने का कोई सूक्ष्मदर्शक यंत्र नहीं होगा ?

उत्तर – आत्मा को किस प्रकार देखना चाहिए, उसी की यह बात चल रही है, श्रुतज्ञान को अंतरोन्मुख करना ही आत्मा को देखने का सूक्ष्म दर्शक यंत्र है। आत्मा स्वयं सूक्ष्म-अरूपी वस्तु है, वह द्रव्य अरूपी, उसके गुण अरूपी और उसकी पर्यायें भी अरूपी हैं, इसलिए वे तीनों सूक्ष्म और उन्हें जाननेवाला श्रुतज्ञान प्रमाण भी सूक्ष्म है, आत्मोन्मुखता वाला वह ज्ञान ही सूक्ष्म आत्मा को देखने का सूक्ष्म दर्शक यंत्र है, इसके अतिरिक्त इन्द्रियादि किन्हीं बाह्य पदार्थों में या विकल्प से आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता। एक बार यथार्थ श्रवण करके ऐसी वस्तु को समझे तो कहीं संदेह न रहे। देवाधिदेव सर्वज्ञपरमात्मा कहते हैं कि तेरा आत्मा ही तेरा चैतन्यदेव है, तू ही अपने अनंत धर्मों को धारण करनेवाला है, उसे पहिचानकर उसकी आराधना कर तो तेरी परमात्मदशा प्रगट हो जाये।

नय एक धर्म को मुख्य करके जानता है, किन्तु वस्तु में अनंत धर्म एकसाथ ही हैं। जहाँ रंग हो, वहाँ उसके साथ ही गंध, रस और स्पर्श भी होते ही हैं। वर्ण-गंध-रस और स्पर्श – यह सब पुद्गल के धर्म हैं, उनमें से एक हो और दूसरे न हों, ऐसा नहीं हो सकता। जहाँ एक धर्म हो, वहाँ अन्य सभी धर्म भी साथ ही विद्यमान हैं। उसीप्रकार आत्मा में ज्ञानादि अनंत धर्म हैं, उनमें से किसी एक धर्म को मुख्य करके कहा, वहाँ वस्तु में दूसरे अनंत धर्म भी साथ में ही हैं, उन्हें जाने, वह ज्ञान प्रमाण है।

आत्मा में अनंत धर्म हैं, आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक स्वतंत्र द्रव्य है, उसे जाननेवाला श्रुतज्ञान अनंत नयों के समूहरूप है, ऐसे श्रुतज्ञान प्रमाण से स्वानुभव द्वारा आत्मा ज्ञात होता है। केवली भगवान को तो आत्मा पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, उनके लिए यह वर्णन नहीं है, यहाँ तो साधक जीव के लिए वर्णन है, इसलिए श्रुतज्ञान और नय से वर्णन किया है। साधक जीव श्रुतज्ञान प्रमाण से आत्मा को जानता है, वह श्रुतज्ञान अनंत नयोंवाला है, उनमें से प्रत्येक नय आत्मा के प्रत्येक धर्म को जानता है।

यहाँ द्रव्यनय से आत्मा कैसा है, वह बात चल रही है। द्रव्य धर्म से अर्थात् सदृश एकरूप चिन्मात्र स्वभाव से आत्मा को लक्ष में ले उसका नाम द्रव्यनय है। आत्मा के अनंतधर्मों में एक ऐसा धर्म है कि आत्मा एकरूप सदृश है। उस धर्म को द्रव्यनय जानता है। वस्तु में जो धर्म हो, उसी का ज्ञान होता है। यदि वस्तु में धर्म न हो तो उसका ज्ञान भी कैसे हो ? आत्मा में कैसे-कैसे धर्म हैं,

उसका यहाँ वर्णन करते हैं। चिन्मात्ररूप से नित्य सदृशरूप स्थायी रहना ऐसा आत्मा का अपना स्वभाव है, इसलिए आत्मा किसी पर के आधार से स्थायी नहीं है, कोई ईश्वर उसे स्थायी (नित्य टिकानेवाला) रखनेवाला नहीं है, किन्तु स्वयं अपने चिन्मात्र स्वभाव से स्थित है, ऐसा उसका एक धर्म है। एक एक धर्म में ही सम्पूर्ण आत्मा का समावेश नहीं हो जाता, किन्तु अनंत धर्मों का एकरूप पिण्ड आत्मा है, उसीप्रकार एक-एक नय में सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान नहीं आ जाता, किन्तु सभी नय एकत्रित होकर सम्पूर्ण वस्तु का प्रमाण ज्ञान होता है। आत्मा के अनंत धर्मों में चैतन्यमात्रपना वह एक धर्म है, उस धर्म से चैतन्यमात्र आत्मा को जाने, सो द्रव्यनय है।

जिस धर्म को जो नय जाने, उस धर्म का उस नय में आरोप होता है, इसलिए द्रव्यधर्म को जाने, उस नय को द्रव्यनय कहा; पर्याय धर्म को जाने, उस नय को पर्याय नय कहा; अस्तित्व धर्म को जाने, उस नय को अस्तित्वनय कहा। इसप्रकार 47 नयों द्वारा आत्मा कैसा ज्ञात होता है, वह आचार्यदेव बतलाते हैं। नय वस्तु के एक धर्म को मुख्य करके जानता है और प्रमाण समस्त धर्मों को एकसाथ जानता है। वस्तु तो एक साथ अनंत धर्म का पिण्ड है। 47 नयों से आत्मा का वर्णन करके अंत में आचार्यदेव ऐसा कहेंगे कि - **स्याद्वाद के आधीन प्रवर्तमान नय समूह द्वारा जीव देखे, तथापि अनंत धर्मों वाले अपने आत्मा को अंतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखता ही है। इसलिए चाहे जिस नय से वर्णन किया हो किन्तु अपने आत्मा को शुद्ध चैतन्यमात्र देखना ही समस्त नयों का प्रयोजन है, किसी भी एक सम्यक्नय से देखनेवाला अपने शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा को देखता है।**

देखो ! जगत में अनंत आत्मा हैं और उस प्रत्येक आत्मा में अनंत धर्म हैं - ऐसा वस्तुस्वरूप जो कहते हों, वे ही देव-गुरु-शास्त्र सच्चे हैं। जगत में भिन्न-भिन्न अनंत आत्मा हैं और प्रत्येक आत्मा में अनंत धर्म हैं, इसे जो स्वीकार न करते हों, वे कोई देव-गुरु या शास्त्र सच्चे नहीं हैं, ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को जो माने, उसे तो अभी व्यवहारश्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है, वह तो धर्म से बहुत दूर है। वस्तु का स्वरूप जिसप्रकार से है, उसीप्रकार से ज्ञान में आये बिना स्थिर नहीं होता और ज्ञान स्थिर हुए बिना विकल्प नहीं टूटता अर्थात् चित्त का निरोध नहीं होता। वस्तुस्वरूप को यथावत् जानकर जहाँ ज्ञान उसमें एकाग्र हो, वहाँ राग या विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती, इसी का नाम चित्त का निरोध है। इसके अतिरिक्त 'मैं चित्त को रोकूँ' इसप्रकार नास्ति के

लक्ष से कहीं विकल्प नहीं टूटता किन्तु विकल्प उत्पन्न होता है। 'मैं चैतन्यमात्र स्वभाव हूँ' – इसप्रकार अस्ति स्वभाव की ओर ज्ञान का बल देने से चित्त का निरोध सहज ही हो जाता है। स्वभाव की एकाग्रता के बल से राग का अभाव हो जाता है, इसलिए प्रथम वस्तु के स्वभाव को सभी पक्षों से यथावत् जानना चाहिए। उसका यह वर्णन चल रहा है।

यहाँ जो द्रव्यनय कहा उसका विषय तो एक ही धर्म है और समयसारादि में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक – ऐसे दो ही मुख्य नय लिए हैं, उसमें जो द्रव्यार्थिकनय है, उसका विषय तो अभेद द्रव्य है। यहाँ जो द्रव्यनय कहा है, वह तो वस्तु में भेद पाड़कर उसके एक धर्म को लक्ष में लेता है और द्रव्यार्थिकनय तो भेद पाड़े बिना वर्तमान पर्याय को गौण करके अभेद द्रव्य को लक्ष में लेता है। इसप्रकार दोनों के विषय में बहुत अन्तर है। समयसार में कहा हुआ शुद्ध निश्चयनय का जो विषय है, वह इस द्रव्यनय का विषय नहीं है, उस निश्चयनय का विषय तो वर्तमान अंश को तथा भेद को गौण करके सम्पूर्ण अनन्तगुण का पिण्ड है और यह द्रव्यनय तो अनंत धर्मों में से एक धर्म का भेद करके विषय करता है।

अध्यात्मदृष्टि से नयों में तो निश्चय और व्यवहार (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक) ऐसे दो ही भाग पड़ते हैं और यहाँ तो अनंत नयों को लेना है। वहाँ दो नयों में पूर्ण प्रमाण समा जाता है और यहाँ तो श्रुतप्रमाण के अनंतनय कहे। यहाँ कहे हुए नयों का विषय एक-एक धर्म है और समयसारादि में कहे हुए द्रव्यार्थिकनय का विषय तो धर्म के भेद से रहित अभेद वस्तु है। यहाँ जिसे द्रव्यनय कहा है, उसे अध्यात्मदृष्टि के कथन में तो पर्यायार्थिक नय में अथवा व्यवहार नय में जाता है।

इस परिशिष्ट में ज्ञान प्रधान वर्णन है, प्रमाण से वर्णन है, इसलिए बंध-मोक्ष पर्याय की गणना भी निश्चय से करेंगे, जबकि समयसारादि में कहे हुए निश्चयनय के विषय में तो आत्मा को बंध-मोक्ष है ही नहीं। इसप्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षा से जैसा कहा है, वैसा बराबर समझना चाहिए।

द्रव्यनय से आत्मा चैतन्यमात्र है, यह बात की, अब उस द्रव्यनय के सन्मुख पर्यायनय की बात करते हैं।

☆ ☆ ☆

2. पर्यायनय से आत्मा का वर्णन

अनंत धर्मात्मक आत्मद्रव्य है, वह पर्यायनय से, तंतुमात्र की भांति, दर्शनज्ञानादि मात्र है। जिसप्रकार वस्तु तंतुमात्र है, उसीप्रकार आत्मा पर्यायनय से दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि मात्र है।

पर्यायनय श्रुतज्ञान का प्रकार है, उस पर्यायनय से देखने पर आत्मद्रव्य दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि मात्र ज्ञात होता है। द्रव्यनय से अभेद एकरूप चैतन्यस्वभाव मात्र ज्ञात होता है और पर्यायनय से वह आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुण-पर्याय के भेदवाला भी ज्ञात होता है - ऐसा आत्मा का स्वभाव है। पर्यायनय से ज्ञानादि अनंत गुण-पर्याय के भेदरूप से आत्मा भासित होता है और द्रव्यनय से एक अभेदरूप चैतन्यस्वभाव मात्र आत्मा ज्ञात होता है। वस्तु एक है किन्तु उसमें पक्ष अनेक हैं। वस्तु को सभी पक्षों से यथावत् जानकर निश्चित करे, उसके पश्चात् ही ज्ञान उसमें स्थिर होगा न ? वस्तु के स्वरूप को जाने बिना कहाँ एकाग्र होकर ध्यान करे ? जिसप्रकार किसी ने हाथ में धनुष बाण तो लिया, किन्तु वह किसे मारना है ? जिस बाण मारना है, उस लक्ष को निश्चित न किया हो तो बाण लेने का अर्थ ही क्या ? प्रथम जिस पर बाण छोड़ना हो, उस लक्ष को बराबर निश्चित करने के पश्चात् ही बाण छोड़ते हैं, उसीप्रकार आत्मा का ध्या करने के लिए प्रथम उसका बराबर ज्ञान करना चाहिए। आत्मा जैसा है, वैसा लक्ष में लिये बिना ध्यान किसका करेगा ? अनेक लोग कहते हैं कि हमें ध्यान करना है, लेकिन किसका ? ध्यान में लेने योग्य आत्मा का स्वभाव क्या है, उसे जाने बिना उसका ध्यान किस प्रकार करेगा ? वस्तु को यथार्थ ज्ञान से जानने के पश्चात् उस वस्तु में ज्ञान की एकाग्रता हो, उसका नाम ध्यान है, जिसे वस्तु का सच्चा ज्ञान ही नहीं है, उसे तो ज्ञान की एकाग्रतारूप ध्यान भी नहीं होता।

जिसप्रकार वस्त्र सामान्यरूप से एक होने पर लम्बा-चौड़ा, रंगीन तथा ताना-बाना वाला - ऐसे भेदरूप से भी ख्याल में आता है, उसीप्रकार चैतन्य बिम्ब भगवान आत्मा द्रव्यरूप से एक होने पर भी उसमें दर्शन-ज्ञानादि अनंत धर्म भरे हैं, इसलिए पर्यायनय से वह दर्शन-ज्ञानादि भेदरूप है। द्रव्यनय से देखने पर भेद गौण होकर एकरूप चिन्मात्र भासित होता है और पर्यायनय से देखने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुण-पर्यायों के भेदरूप भी भासित होता है - ऐसा आत्मा का स्वभाव है। आत्मा में ज्ञान-दर्शन आदि भेद हैं, वे कहीं कल्पनारूप नहीं हैं, किन्तु सत् हैं, वस्तु में कथंचित् गुणभेद भी हैं, वस्तु सर्वथा अभेद नहीं है, किन्तु भेदाभेदरूप है। ऐसी वस्तु ही प्रमाण का विषय है।

तीनों काल पर्याय होने का आत्मा का स्वभाव है। वस्तु में गुणभेद पड़े, उन्हें भी पर्याय कहा जाता है और विशेष अवस्था हो, उसे भी पर्याय कहा जाता है।

द्रव्यनय से वस्तु नित्य एकरूप होने पर भी पर्यायनय से उसमें त्रिकाल नवीन-नवीन अवस्थाएँ होती रहती हैं, ऐसा उसका स्वभाव है। आत्मा की कोई पर्याय पर के कारण नहीं होती, किन्तु अपने पर्याय स्वभाव से ही उसकी पर्याय त्रिकाल होती रहती है। आत्मा में पर्याय धर्म कब नहीं है ? सदैव है। यदि आत्मा के पर्याय धर्म को जाने तो पर के आश्रय से अपनी पर्याय होना नहीं माने, किन्तु द्रव्य के आश्रय से ही पर्याय का होना माने, इसलिए पर से लाभ-हानि होते हैं, ऐसी मिथ्याबुद्धि नहीं रहे। यदि पर से अपनी पर्याय में लाभ-हानि माने तो वास्तव में उसने आत्मा के पर्याय धर्म को नहीं जाना है।

द्रव्यनय से आत्मा निगोद से सिद्ध तक सदैव एकरूप है, अल्प पर्याय अथवा अधिक पर्याय - ऐसे भेद उसमें नहीं हैं, किन्तु पर्यायनय से वह भेदरूप है। संसार-मोक्ष ऐसी पर्यायरूप से आत्मा स्वयं परिणमित होता है। पर्याय धर्म अपना है, किसी दूसरी वस्तु के कारण उसका पर्याय धर्म नहीं होता। यदि दूसरा पदार्थ आत्मा की पर्याय करे तो आत्मा के पर्याय धर्म ने क्या किया ? यदि, निमित्त से पर्याय हुई - ऐसा हो तो आत्मा का पर्याय धर्म ही न रहा। अपनी अनादि-अनंत पर्यायें अपने से ही होती हैं - इसप्रकार यदि अपने पर्याय धर्म को न जाने तो ज्ञान प्रमाण नहीं होता। स्वभाव की ओर ढलनेवाला ज्ञान प्रमाणपूर्वक ही ढलता है, वस्तुस्थिति को समझकर ज्ञान प्रमाण हुए बिना वह वस्तु स्वभाव में ढलता ही नहीं, इसलिए उसे आत्मा का स्वानुभव नहीं होता।

यदि द्रव्यनय से भी आत्मा को संसार हो तो वह संसार नित्य बना ही रहे और यदि पर्यायनय से भी आत्मा को संसार न हो तो आत्मा की मुक्ति ही होना चाहिए। इसलिए दोनों नयों से वस्तु के स्वरूप को जानना चाहिए। यदि आत्मा में द्रव्यनय से संसार हो तो वह दूर कैसे होगा ? और पर्याय में संसार है, वह पर्याय के अवलम्बन से कैसे दूर हो सकता है ? द्रव्यनय से तो आत्मा को संसार-मोक्ष नहीं है, संसार पर्याय में या मोक्ष पर्याय में सदैव आत्मा चिन्मात्र ही है, परन्तु पर्याय में संसार-मोक्ष है, उसे पर्यायनय जानता है, किन्तु उस पर्याय के आश्रय से संसार दूर नहीं होता, द्रव्य का आश्रय करने से संसारपर्याय दूर होकर मोक्षपर्याय हो जाती है, इसलिए पर्यायनय वाला भी पर्यायबुद्धि रखकर पर्याय को ही नहीं जानता, किन्तु द्रव्य पर दृष्टि रखकर पर्याय का ज्ञान करता

है। द्रव्य की दृष्टि बिना मात्र पर्याय को जानना चाहे तो उसे पर्यायबुद्धि का मिथ्यात्व हो जाता है। सम्पूर्ण द्रव्य के ज्ञानपूर्वक उसके पर्यायधर्म को पर्यायनय जानता है, उस पर्यायनय से आत्मद्रव्य गुण-पर्याय के भेदवाला ज्ञात होता है।

द्रव्यदृष्टि से जो वस्तु सामान्य एकरूप रहती है, वही पर्यायदृष्टि से प्रतिसमय बदलती है, यदि पर्यायदृष्टि से भी वह जैसी की तैसी ही बनी रहती हो तो वह प्रतिसमय जो विशेष कार्य होता है, वह भी नहीं हो सकेगा अथवा विशेष के बदलने से सामान्य पृथक् रह जायेगा, इसलिए सामान्य और विशेष सर्वथा पृथक् हो जायेंगे। किन्तु ऐसा हो ही नहीं सकता, क्योंकि सामान्य कभी विशेष के बिना नहीं होता। वस्तु अनेक धर्मात्मक है, सामान्य विशेष दोनों को एक साथ न माने तो वस्तु ही सिद्ध नहीं होगी।

नय से विचार करनेवाला भी, समस्त धर्मों का समुदाय, सो आत्मा है - ऐसा लक्ष में रखकर उसके एक-एक धर्म को भेद करके विचार करता है, तत्त्व के विचारकाल में ऐसे धर्मों से वस्तु को निश्चित करना चाहिए। तत्त्व का निर्णय करके अभेद चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि करने से सम्यगदर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है। जहाँ अभेद स्वभाव के अनुभव में ढला, वहाँ ऐसे धर्म के भेद से विचार नहीं रहते।

नय एक धर्म को देखने पर भी दृष्टि में तो सम्पूर्ण वस्तु आ जाती है और तभी एक धर्म के ज्ञान को नय कहा। नय कहते ही वस्तु का एक पक्ष आया, इसलिए दूसरे पक्ष बाकी (शेष) हैं, ऐसा भी उसमें आ गया। नय एक धर्म को मुख्य करके वस्तु को लक्ष में लेता है, वह धर्म वस्तु का है और वस्तु अनंत धर्मवाली है, इसलिए नय के साथ ही उस अनंत धर्म वाली वस्तु का प्रमाण ज्ञान भी साथ ही है। नय तो अंश को जानता है। अंश किसका ? अंशी का। अंशी के ज्ञान बिना अंश का ज्ञान यथार्थ नहीं होता। सम्पूर्ण वस्तु के प्रमाणज्ञानपूर्वक उसके एक अंश का ज्ञान हो, तभी उसे नय कहा जाता है। इसप्रकार नय के साथ प्रमाण भी है।

इसप्रकार द्रव्यनय और पर्यायनय - इन दो नयों से आत्मा का वर्णन किया, अब अस्तित्वनय आदि सात नयों से आत्मा के अस्ति-नास्ति आदि सात धर्मों का वर्णन करते हैं।

(अपूर्ण)

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये जिज्ञासु निम्नलिखित पुस्तकों की स्वाध्याय अवश्य करें!

समयसार -प्रवचन (भाग-1)	6-0-0
समयसार -प्रवचन (भाग-2)	5-0-0
मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें	1-6-0
दशलक्षण-धर्म	0-12-0
सम्यग्दर्शन	2-8-0
भेदविज्ञानसार	2-0-0
मूल में भूल	0-12-0
मुक्ति का मार्ग	0-10-0
आत्मधर्म की फाइलें	3-12-0

उपरोक्त पुस्तकों में 'सम्यग्दर्शन' नाम की पुस्तक अभी प्रगट हुई है, जो प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य पढ़ने योग्य है।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

प्राप्तिस्थान —

श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)